विपश्यना

[साधकों का मासिक प्रेरणापत्र]

रजि. नं. १९१५९/७१
पोस्टल रजि. नं. NS (M)-16/85

वर्ष १५ • बम्बई • बुद्धवर्ष २५२९ • आश्विन पूर्णिमा [शक] • दि. २८-१०-१९८५ • अंक ५

प्रेरक प्रसंग

(६)

काम-वासना मानवमन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। जिन तीन तृष्णाओंके कारण वह भवनेत्रीसे बंधा रहता है उसमें कामतृष्णा प्रथम है, प्रमुख है। माता-पिताके काम-संभोग से मानव की उत्पत्ति होती है। अतः अंतर्मन की गहराइयों तक काम-भोग का प्रभाव छाया रहता है। इसके अतिरिक्त अनेक जन्मोंके संचित स्वयं अपने काम-संस्कार भी साथ चलते ही हैं। अतः मुक्तिके पथ पर चलनेवाले व्यक्ति के लिए काम-भोगके संस्कारों से छुटकारा पाना बहुत कठिन होता है। विपश्यना करनी न आए तो असंभव ही हो जाता है।

काम-वासनाओं से छुटकारा पाकर कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य का जीवन जीना चाहता है परन्तु बार बार मनमें वासनाके तूफान उठते हैं और उसे व्याकुल बनाते हैं। कहीं ब्रह्मचर्य भंग न हो जाय इसलिए वह कठोरतापूर्वक वासनाओंका दमन करता है और परिणामतः अपने भीतर तनाव की ग्रंथियाँ बांधता है। दमन द्वारा वासनाओं से मुक्ति मिलती नहीं। भीतर ही भीतर वासना उमड़ती-कुलबुलाती रहती है और मन मथती रहती है। यों दमन द्वारा ब्रह्मचर्य पालनेवाला कोई विश्वामित्र जैसा साधक मेनका जैसी अप्सरा की रूप-माधुरी पर फिसल जाता है तो आत्मग्लानि, आत्मक्षोभ और आत्मगर्हा से भर उठता है। ऐसा होने पर अपराध की ग्रंथियाँ बांध-बांध कर अपनी व्याकुलता को और बढ़ाता है।

इसीलिए फ्रायड जसे मनोविज्ञानवेत्ता ने कामवासना के दमन को मानसिक तनाव और व्याकुलता का प्रमुख कारण माना और काम-भोग की खुली छूट को प्रोत्साहित किया। अनेक लोग इस मत के पक्षधर बने। आज के युग के कुछ एक साधना सिखानेवाले लोग भी इस बहाव में बह गए। ऐसे लोगों ने रोग को तो ठीक तरह से समझा पर रोग-निवारणका जो इलाज ढूंढा वह रोग के बढ़ानेका ही कारण बन बैठा। काम-वासना का दमन एक अंत है जो सचमुच रोग-निवारण का सही उपाय नहीं है। परन्तु उसे खुली छूट देना ऐसा दूसरा अंत है जो कि रोग-निवारण की जगह रोग-संवर्धन का ही काम करता है।

धम्म वाणी

कामतो जायते सोको, कामतो जायते भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं॥

– धम्मपद – २१५.

काम से शोक जन्मता है। काम से जन्मता है भय।
काममुक्त व्यक्ति को शोक नहीं होता। भय तो होगा ही क्या?

जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो तृष्णा के सभी बंधनों को भग्न करके विकार-विमुक्ति के ऐश्वर्य का जीवन जीता है। इसीलिए वह भगवान कहलाने का अधिकारी होता है। ऐसा व्यक्ति काम-तृष्णा, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा, इन तीनों से छुटकारा पा लेता है और जिस विपश्यना विद्या द्वारा यह मुक्त अवस्था प्राप्त की, उसे ही करुण चित्त से लोगोंको बांटता है।

विपश्यना साधना की विधि न विकारोंके दमन के लिए है और न ही उन्हें खुली छूट देने के लिए। विपश्यना विधि इन दोनों अतियों के बीचका मध्यम मंगल-मार्ग है जो जागे हुए विकार को साक्षीभाव से देखना सिखाती है, जिससे कि उसका शमन होता है, दमन नहीं। विपश्यना शरीर पर होनेवाली तत्कालीन संवेदनाओं को भी साक्षीभाव से देखना सिखाती है जिससे कि अन्तर्मन की गहराइयों में दबे हुए काम विकारों को भी जड़ से निकालनेका काम शुरू हो जाता है। कुशल विपश्यी साधक समय पाकर इस विधि में पारंगत होता है और कामविकारों का सर्वथा उन्मूलन कर लेता है और सहजभाव से ब्रह्मचर्य का पालन करने लगता है। इसके अभ्यास में समय लगता है। बहुत परिश्रम, पुरुषार्थ, पराक्रम करना पड़ता है। परंतु यह पराक्रम देह-दंडन का नहीं, मानस-दमन का नहीं, बल्कि मनोविकारोंको तटस्थभावसे देख सकने की क्षमता प्राप्त करने का है; जो कि प्रारंभ में बड़ा कठिन लगता है। पर लगन और निष्ठासे अभ्यास करते हुए साधक देखता है कि शनैः शनैः उसके मन पर वासना की गिरफ्त कम होती जा रही है। दमन नहीं करनेके कारण कोई तनाव भी नहीं बढ़ रहा है और समय पाकर सारे काम-विकारों से मुक्त होकर ब्रह्मचर्य का जीवन जीना सहज हो गया है। यह सब कैसे होता है? इसे समझें।

पुरुष के लिए नारी के और नारी के लिए पुरुष के रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श से बढ़कर अन्य कोई लुभावना आलंबन नहीं होता। यह पाँचों आलंबन आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा की इंद्रियों पर आघात करते हैं अथवा इनकी याद और कल्पना चिंतन के रूपमें मन की इंद्रिय पर आघात करती है तो ही वासना के विकार जगने का काम आरंभ होता है। पहली पांचों इंद्रियाँ शरीर पर स्थापित हैं ही। छठी मन की इंद्रिय भी शरीर की सीमा के भीतर ही होती है। अतः विपश्यना साधना का अभ्यास साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही किया जाता है, बाहर नहीं। कामतृष्णा जहाँ जागती है वहीं उसे जड़ से उखाड़ा जा सकता है, अन्यत्र नहीं। साढ़े तीन हाथ की कायामें इंद्रिय-सीमा-क्षेत्र के भीतर इसकी उत्पत्ति होती है, यहीं इसका निवास और संवर्धन होता है। अतः विपश्यना द्वारा यहीं इसका उन्मूलन किया जा सकता है।

देखना यह है कि बाहर के आलंबन ने अपने भीतर क्या खटपट शुरू कर दी ? आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा पर रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श का संपर्क होते ही यानी प्रथम आघात लगते ही अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर तत्संबंधित इंद्रिय-दरवाजे पर और फिर सारे शरीर पर प्रकम्पन होता है। "फस्स पच्चया वेदना" स्पर्श होते ही संवेदना होती है। जैसे कांसे के बर्तन को छू देने से उसमें झंकार की तरंगे उठती हैं। इस प्रथम आघात के तुरंत बाद मानस का वह हिस्सा जिसे संज्ञा कहें या बुद्धि कहें, वह अपने पूर्व अनुभव और याददास्त के आधार पर इस आलंबन को पहचानता है। – "यह पुरुष अथवा नारी का रूप, शब्द, गंध आदि है।" और फिर उसका मूल्यांकन करता है, "ओह, बहुत सुन्दर है, बहुत मधुर है।" ऐसा करने पर शरीर पर होनेवाली वह तरंगे प्रिय प्रतीत होने लगती हैं और मानस उनके प्रति राग-रंजित होकर उनमें डूबने लगता है। "वेदना पच्चया तण्हा" संवेदना से ही (काम) तृष्णा होती है। यहीं से वासना का दौर शुरू हो जाता है। बार बार रूप, शब्द, गंध आदि संबंधित इंद्रियों से टकराते है, बार बार प्रिय मूल्यांकन होता है, बार बार प्रतिक्रिया स्वरूप वासना के संस्कार बनते हैं। यों क्षण-प्रतिक्षण एक के बाद एक वासना के संस्कार बनते बनते पत्थर की लकीर जैसे गहरे हो जाते हैं। जब रूप, शब्द, गंध, रस आदि बाहरी आलंबन प्रत्यक्षतः आंख, कान, नाक आदि इंद्रिय-द्वारोंसे संपर्क करना बंद कर देते हैं तो छठी इंद्रिय याने मनकी इंद्रियका दरवाजा खुल जाता है। अब मन की इंद्रिय पर पूर्व अनुभूत रूप, शब्द, गंध आदि के आलंबन कल्पना और चिंतनके रूपमें टकराने लगते हैं। फिर वही क्रम चल पड़ता ह। प्रथम आघात से प्रकम्पनका होना, फिर प्रिय मूल्यांकन, फिर संवेदना, फिर प्रतिक्रिया स्वरूप वासना के संस्कारों की उत्पत्ति। क्षण-प्रतिक्षण चिंतन का आलंबन चित्तधारा से टकराता रहता है और क्षण-प्रतिक्षण वासना का संस्कार पैदा होते रहता है। यह क्रम जितनी देर चलता है, वासना उतनी ही बलवान होती जाती है। मन पर उमड़ती हुई यह तीव्र वासना जागी और शरीर पर प्रकट होनेके लिए मचल उठती है। सारा का सारा चित्त वासना के प्रवाह में आमूल-चूल डूब जाता है।

वासना में डूबे हुए व्यक्ति की सति याने स्मृति (यहां स्मृति का अर्थ याददास्त नहीं है) याने जागरूकता बनी रहती है। वासना-व्यथित व्यक्ति स्मृतिमान रहता है याने सजग रहता है। परंतु सजग रहता है केवल रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श अथवा चिंतन के आलंबन के प्रति ही। इन छह में से किसी न किसी आलंबन पर उसका ध्यान लगा रहता है। यही आलंबन का ध्यान वासना को उद्दीप्त करता है। अतः स्मृति रहते हुए भी इसे सम्यक् स्मृति याने सही स्मृति नहीं कहते। मिथ्या स्मृति कहते हैं। सति-मुट्ठा कहते हैं। इन छह आलंबनों में से कोई एक भी जब तत्संबंधित इंद्रिय द्वार के संपर्क में आता है तो स्वानुभव का काम शुरू हो जाता है। संपर्क होते ही तरंगरूपी वेदना का होना, संज्ञा द्वारा मूल्यांकन करना, संवेदना का प्रिय लगना और 'प्रिय संवेदना का रसास्वादन करते हुए वासना के संस्कार की प्रतिक्रिया का आरंभ होना, यह सब स्वानुभूति का क्षेत्र है। अतः सत्य का क्षेत्र है। इसके प्रति सजग रहे तो स्मृति सम्यक् है। केवल मात्र आलंबन के प्रति सजग रहे, आलंबन के स्पर्श का भी निरीक्षण न कर सके, उसके आगे की स्वानुभूतियाँ तो दूर रहीं, तो स्मृति मिथ्या ही हुई। क्योंकि अनुभूति वाला क्षेत्र भुलाया हुआ है।

स्मृति याने जागरूकता जब संपजञ्ञं से जुड़ती है तो सम्यक् हो पाती है। साधक "आतापी सम्पजानो सतिमा" हो जाता है। इसीको विपश्यना कहते हैं। इसी को सतिपट्ठान कहते हैं याने सति का सम्यक् रूपसे स्वानुभूतिजन्य सत्य में प्रतिष्ठापित हो जाना। विपश्यी साधक यही करता है। वह सत्य-दर्शी होता है। आत्मदर्शी होता है। आत्मदर्शी के माने जिसका कभी स्वयं अनुभव किया ही नहीं, ऐसी सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई दार्शनिक मान्यतावाली कल्पित आत्मा का दर्शन करना नहीं। यहां आत्मदर्शन का अर्थ है - स्वदर्शन। अनुभूतियों के स्तर पर अपने बारे में जिस जिस क्षण, जो जो सच्चाई प्रकट हो उसे ही साक्षीभावसे देखना सत्य-दर्शन है, स्वदर्शन है, आत्मदर्शन है। मुक्ति का सहज उपाय है। किसी कल्पना का ध्यान मन को कुछ देर के लिए भरमाए भले रखे, पर विकार-विमुक्त नहीं कर सकता।

कोरे बौद्धिक अथवा भक्ति-भावावेशमूलक मान्यताओं के दायरे के बाहर निकलकर साधक अनुभूति के स्तर पर यथार्थ की भूमि पर कदम रखता है। जो सत्य है उसे केवल मानकर नहीं रह जाता, उसे जानता है – – – "जानाति" और प्रज्ञापूर्वक जानता है – "पजानाति"। साक्षीभावसे, तटस्थ भावसे बिना राग के, बिना द्वेष के, बिना मोह के यथाभूत – – जैसा है वैसा, उसके सत्य स्वभाव में यथार्थ को जानता है। मात्र जानता है। कोई प्रतिक्रिया नहीं करता; न उसे दूर करने की, न उसे रोके रखने की। केवल दर्शन, केवल ज्ञान। यही है "पजानाति"।

बाहर का आलंबन चाहे जो हो, अपने भीतर कामवासना जागी तो बाहर के आलंबन को गौण मानकर अपने भीतर की अनुभूतिजन्य सच्चाई को जानने का अभ्यास साधक शुरू कर देता है।

"संतं वा अज्झत्तं कामछन्दं" जब भीतर कामतृष्णा है तो "अत्थि मे अज्झत्तं कामछन्दो ति पजानाति" मेरे भीतर कामछन्द याने कामतृष्णा है, वह प्रज्ञापूर्वक जानता है। प्रज्ञापूर्वक इस माने में भी कि वह अनित्य स्वभाववाली है, अनंतकाल तक बनी रहनेवाली नहीं। इस समझदारीके साथ तटस्थभाव बनाए रखता है, उसे दूर करनेकी जरा भी कोशिश नहीं करता। अन्यथा दमन के एक अंत की ओर झुक जायेगा और न ही उसे वाणी और शरीर पर प्रकट होने की छूट देता है; अन्यथा आग में घी डालनेवाले दूसरे अंत की ओर झुक जायेगा। बस उसके अनित्य स्वभाव को समझते हुए केवल जानता है "पजानाति"। क्यों कि अब उसे बढ़ावा नहीं मिल रहा अतः समय पाकर वह जागी हुई कामतृष्णा स्वतः दूर हो जाती है। साधक इस सच्चाई को भी महज साक्षीभाव से प्रज्ञापूर्वक जान लेता है। "असंतं वा अज्झत्तं कामछन्दं" नहीं है भीतर कामछन्द, तो "नत्थि मे अज्झत्तं कामछन्दो ति पजानाति" मेरे भीतर कामछन्द नहीं है इस सच्चाई को प्रज्ञापूर्वक तटस्थभाव से जानता है।

और क्योंकि विपश्यना कर रहा है तो सतिमुट्ठा नहीं हुई, सतिपट्ठान का अभ्यासी है याने अपने भीतर नाम-रूप याने चित्त और शरीर के प्रपंच को प्रज्ञापूर्वक अनुभूति के स्तर पर जानने का काम कर रहा है। इसी को "सति" के साथ "संपजञ्ञं" को जोड़ना कहते हैं। शरीर-चित्त का प्रपंच वेदनाओं के रूप में प्रकट होता है। साधक मानस पर जागी हुई संवेदनाओं को तटस्थभावसे देखता है। यह संवेदनाएं अंतर्मन से जुड़ी रहती हैं अतः मन की गहराइयों में दबे हुए कामवासना के अंतःशायी संस्कार (अनुशय-क्लेश) की उदीर्णा शुरू हो जाती है। इन पूर्व संचित अनुत्पन्न कामवासनाओं का उत्पाद शुरू हो जाता है "यथाच अनुप्पन्नस्स कामछन्दस्स उप्पादो होति तं च पजानाति"।

और उदीर्ण हुई इस चिरसंचित कामवासना को भी साक्षी-भाव से संवेदनाओं के स्तर पर देखते रहता है तो उन पुराने संस्कारों की परत पर परत उतरते हुए उनकी निर्जरा होती जाती है, उसका क्षय होते जाता है। "यथा च उप्पन्नस्स कामछन्दस्स पहानं होति तं च पजानाति"। यों उदीर्णा और निर्जरा होते होते, प्रहाण क्षय होते होते एक समय ऐसा आता है जब कि अंतर्मन की गहराई तक के कामतृष्णा के सारे संस्कार उखड़ जाते हैं, उनका नाम-लेश तक नहीं रहता। अब कोई कामवासना जागती ही नहीं। न किसी वर्तमान के आलंबन के कारण और न कोई पुराने संग्रह में से। "यथा च पहीनस्स कामछन्दस्स आयतिं अनुप्पादो होति तं च पजानाति"। साधक परम मुक्त अवस्था तक पहुँच जाता है।

जो परिश्रम करे वही इस मुक्त अवस्था तक पहुँचे। किसी भी जाति का हो, वर्ण का हो, रंग-रूप का हो, देश-विदेश का हो, बोली-भाषा का हो। जो करे वही मुक्त। जो न करे उसे लाभ कैसे मिले भला? कोई कोई इसलिए नहीं करता कि यह तो हमारी परंपरागत दार्शनिक मान्यता के अनुकूल नहीं है, हम क्यों करें? कोई कोई इसलिए नहीं करता कि यह हमारी मान्यता के अनुकूल है। देखो हमारी मान्यता कितनी महान है! इस गर्व गुमान में ही संतुष्टि कर लेता है। मान्यताओं में उलझे हुए लोग विपश्यना नहीं कर सकते। इससे लाभान्वित नहीं हो सकते। करें तो लाभान्वित होंगे ही।

● ○ ●

इसी संदर्भ में भगवान के जीवनकाल की एक घटना :

कोशल देश की राजधानी, महानगरी श्रावस्ती। उन दिनों भगवान श्रावस्ती में ही अनाथपिंडिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। वहीं बड़ी संख्या में साधक-साधिकाएँ भगवान से विपश्यना साधना सीखते थे। समय समय पर धर्म चर्चा होती थी।

भगवानकी अमृतवाणी सुनने के लिए नगर से अन्य लोग भी आते थे और लाभान्वित होते थे। एक दिन नगर का ब्राह्मण अभय धर्मदेशना में आया। उस दिन भगवान ने समझाया कि किस प्रकार विपश्यना साधना द्वारा साधक सभी मनोविकारों से मुक्त हो सकता है। गृहस्थ अभय काम-वासना के विकार से बहुत व्यथित रहता था। चाहता था किसी प्रकार उस से छुटकारा पाए, परंतु अनेक उपाय आजमाने पर भी उसे सफलता नहीं मिली। भगवान की वाणी में उसे आशा कि झलक दिखी। यह साधना अपनी परंपरागत दार्शनिक मान्यता को पुष्ट नहीं करती। परंतु युक्तिसंगत लगती है। अतः इस वैज्ञानिक विधि का अभ्यास करके मुझे वासना से मुक्ति प्राप्त कर लेनी ही चाहिए। उसने सोचा घर के राग-रंगमय वातावरण में रहते हुए विपश्यना साधना द्वारा वासना से पूर्ण मुक्ति पा सकने में बहुत समय लग सकता है। अतः घरबार छोड़कर भिक्षु हो, भगवान के विहार में रहने लगा और विपश्यना साधना का नियमित अभ्यास करने लगा। विपश्यना साधना से उसे अनेक प्रकार के लाभ हुए। विकारों का शमन हुआ। उसे लगा कि उसकी काम-वासना भी दूर हो गयी है। परंतु अभी अनुशय-क्लेश के रूप में वासना के पूर्व संस्कार अंतर्मन की गहराईयों में भवंग अवस्था में सोए पड़े थे, उनकी न उदीर्णा हो पायी थी और न ही निर्जरा।

भिक्षु अभय प्रतिदिन भिक्षाटन के लिए नगर में जाता। भिक्षु नियमों के अनुसार हमेशा नजर नीची किए हुए भिक्षा लेता और विहार लौटकर आहार ग्रहण करता और ध्यान-भावना में रत हो जाता।

एक दिन भिक्षाटन के समय किसी घर के सामने नीची नजर किए हुए भिक्षा-पात्र में भिक्षा ग्रहण कर रहा था। भिक्षा देनेवाली गृहणी के मेंहदी रचे मनहर पांवों पर उसकी नजर पड़ी और अपने पूर्व स्वभाव के विपरीत एकाएक नजर ऊपर उठ गयी। सामने रूप-राशि लिए नवयौवना खड़ी थी। भिक्षु अपलक देखता ही रह गया। ऐसा रूप-सौंदर्य उसने पहले कभी न देखा था रूपगर्विता युवती यह देखकर मुस्करायी। उसे अपनी रूप-संपदा पर अधिक गर्व जागा। वह मुस्कराती, इठलाती हुई अपने घर के भीतर चली गयी।

भिक्षु अभय विहार लौटा। पर न भोजन अच्छा लगा, न ध्यान-भावना में ही मन लगा। बार-बार उस रूपसी की लुभावनी

चितवन, मनभावनी मुस्कान और चित्ताकर्षक कनक देह-यष्टि यह आंखो के सामने प्रकट होने लगी। भिक्षु काम-विह्वल हो उठा। ध्यानांगन में जरा भी मन न टिके, कामांगन में ही मन लोट-पलोट लगाता रहे। वही चितवन, वही मुस्कान, वही देह-यष्टि। साधक भिक्षु की बड़ी दयनीय दशा हो गयी। बीच-बीच में उसे कभी होश आता। अपनी दशा पर बड़ी ग्लानि होती। जानता था कि ग्लानि से विकार-विमुक्त नहीं हो सकता। पर क्या करे?

सौभाग्य से भगवान की धर्मवाणी उसके कानों में गूंज उठी।

"रूपं दिस्वा सतिमुट्ठा" रूप देखकर सतिमुट्ठा हो गयी, स्मृति मिथ्या हो गयी।

क्यों कि "पिय निमित्तं मनसिकरोतो" मन में प्रिय माने हुए निमित्त का चिंतन चलने लगा।

ऐसी अवस्था में "सारत्तचित्तो वेदेति" चित्त शरीर पर होने-वाली संवेदनाओं को महसूस तो करता है पर उन्हें प्रिय मानकर राग-रंजित हो उठा है।

और "तं च अज्झोस तिट्ठति" उसी में डूब कर रह जाता है।

परिणाम स्वरूप "तस्स वड्ढन्ति आसवा" ऐसे व्यक्ति के आस्रव बढ़ते हैं। भव-संस्कारों का संवर्धन होने लगता है।

ऐसे भवसंस्कारों का जो कि "भवमूलोपगामिनो" भवमूलया भवंग की ओर, अचेतन चित्त की ओर पैठते और संग्रहित होते रहते हैं।

भगवान के इन शब्दों से जैसे साधक अभय को एक बिजली का सा करेंट लगा। तीव्र कामवासना जागने की यह घटना उसकी मुक्ति के लिए अद्‌भुत् प्रेरक प्रसंग बनी। वह अपनी स्मृति को, जागरूकता को, सतिमुट्ठा से सतिपट्ठान की ओर मोड़ने लगा। बड़ा दृढ़ पराक्रम किया। यथाभूत ज्ञानदर्शन की विपश्यना शुरू की। "मेरे चित्त पर इस समय कामवासना के विकार जागे हैं और उसकी वजह से शरीर पर संवेदना हो रही है। दोनों को साक्षी-भाव से देखने लगा। दोनों ही अनित्य स्वभाव वाले हैं। देखें कब तक रहते हैं। बस देखने लगा। उन्हें दूर करने का उपक्रम बंद किया और विपश्यना अपना काम करने लगी। शीघ्र ही तूफान से मुक्त हुआ और इतना ही नहीं, यों संवेदनाओं पर कुछ दिनों काम करते करते सभी अन्तःशायी कामविकारों का क्षय कर लिया। जीवन मुक्त हुआ।

भिक्षु अभय अर्हतों में से एक हुआ। क्रमशः.....

● ● ●

मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–११० ००७.
की मंगल कामनाओं सहित
↓

दोहे धर्म के

काम जगे तो सहज ही, जगे क्रोध विद्वेष।
मन खो बैठे शांति सुख, जागे अन्तर क्लेश ॥१॥
काम–भोग की वासना, इससे बड़ा न रोग।
जनम जनम व्याकुल करे, भव भव दुख संयोग ॥२॥
तृष्णा भव की विभव की, दुखदायी ही होय।
लेकिन तृष्णा काम की, दुखद अपरिमित होय ॥३॥
रूप दिखे अंधा बने, शब्द सुने मदहोश।
स्पर्श हुए उन्मत्त हो, खोय शांति सुख-कोष ॥४॥
कामाकुल होवे पुरुष, कामातुर हो नार।
होश गँवाकर चल पड़े, पंकित पथ अतिचार ॥५॥
खुली छूट इक अंत है, दमन दूसरा अंत।
मध्यम पंथ विपश्यना, निर्विकार हो संत ॥६॥

दूहा धरम रा

काम जगै तो भय जगै, जागै मन मँह सोक।
काम तज्यां निरभय हुवै, सहजां हुवै निसोक ॥१॥
काम जग्यां आंधो हुवै, नर होवै या नार।
भलो बुरो देखै नहीं, अनरथ करै अपार ॥२॥
अपणो भी अनरथ हुवै, पर अनरथ ही होय।
काम वासना रत रयां, सदा अमंगल होय ॥३॥
जद तक अन्तर छा रयो, काम राग को रोग।
तद तक साचो सुख कठै? दुख को ही संजोग ॥४॥
दमन कर्‌यां गांठ्यां बँधै, काम मुक्ति ना होय।
खुल खेल्यां घृत ही पड़ै, अगनी चौसर होय ॥५॥
काम जगै तो तुरत ही, जगा विपस्सना जोग।
हो तटस्थ देखण लगै, मिटै काम को रोग ॥६॥

सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट के लिए प्रकाशक, मुद्रक एवं संपादक : रामप्रताप यादव, धम्मगिरि, इगतपुरी–४२२ ४०३. दूरभाष : ८१
मुद्रण स्थान : अक्षरचित्र मुद्रणालय, सातपूर, नासिक–४२२ ००७. टेलिफोन : ३०२५१ ● वार्षिक शुल्क रु. १०/–आजीवन शुल्क रु. १००/–

विपश्यना" 10/85

वो. र. नं. MS(M) 10/85

Licence No. NS 18
Licensed to post without pre-payment

प्रेषक :
सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट
विपश्यना विश्व विद्यापीठ
धम्मगिरि, इगतपुरी–४२२ ४०३.
(नासिक, महाराष्ट्र)

To